प्रफुल्ल कोलख्यान

लेबल: विचार साहित्य

इनकार का हक और हक का इनकार

जब तक मनुष्य जीवन से दुख को मुक्त करने का एक उपाय करता है तब तक दुख जीवन में हजार वेष धरकर आ जाता है। मानव सभ्यता में दुख का दखल बढ़ता ही गया है। आज दुख इसलिए भी दुस्सह होता जा रहा है कि दुख अकेले कटता नहीं और साथ रहने की प्रवृत्ति मनुष्य में कम हो रही है। प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' की एक पात्र पुन्नी कहती है--- 'सुख के दिन आयँ, तो लड़ लेना; दुख तो साथ रोने ही से कटता है।' वर्षों पहले प्रकाशित कवि भगवत रावत के काव्य संग्रह 'सच पूछो तो' में 'पाँचवीं कक्षा के लिए समाज विज्ञान का एक पाठ' उपशीर्षक से एक कविता है 'सभ्यता और संस्कृति' और पंक्ति है--- 'सभ्य आदमी समूह में मिलकर नहीं गाते/ समूह में मिलकर नहीं नाचते/ समूह में मिलकर समय नहीं गँवाते/ सभ्य आदमी अकेले रहना पसंद करते हैं/ सभ्य आदमी समूहों में नहीं पाये जाते हैं'। इधर जितने तरह के संकेत उभरकर सामने आ रहे हैं उन से तो यही लगता है कि समृद्धि में चाहे जितनी भी वृद्धि हो आदमी का दुख कमने नहीं जा रहा है। कहने-सुनने में जितना भी अविश्वसनीय लगे मगर सचाई यही है कि दुख आज समृद्धि का समानुपाती बनकर प्रकट हो रहा है। संयुक्त परिवार टूटा, एकल परिवार भी तेजी से टूट रहा है। बच्चों के सामने 'माता और पिता' के प्यार का अवसर 'माता या पिता' के प्यार का विकल्प बनकर हाजिर हुआ, फिर यह भी नाकाफी हो गया अब तो मोटे तौर पर बच्चों के सामने 'माता-पिता' के प्यार के बिना ही बड़ा होने का विकल्प बचा है। कहना न होगा कि सभ्यता के मूल में परिवार होता है। परिवार में बच्चे ही नहीं पलते हैं, सभ्यता भी पलती है।

आज घरेलू हिंसा का दायरा बहुत अधिक बढ़ गया है। साधारण मार-पीट या डाँट-डपट की बात पुरानी पड़ चुकी है; अब घरेलू हिंसा के दायरे में दैहिक, मानसिक अत्याचार के साथ ही यौन दुर्व्यवहार का बहुतायत भी शामिल है। अत्याचार और दुर्व्यवहार में होनेवाली यह मात्रात्मक और

गुणात्मक वृद्धि भारी चिंता का विषय है। अभी भारत में इसका भयावह रूप पूरी तरह से सामने नहीं आया है, अभी तो संकट का सिर्फ पाँव ही दिख रहा है। अब पति-पत्नी के बीच एक विस्तर पर सोने की ललक तो दूर की कौड़ी, एक कमरे में रात बिताना भी भारी पड़ रहा है। इस मानसिक-विच्छिन्नता के पीछे सिर्फ 'दुष्ट कारणों' को खोजना ठीक नहीं है। कुछ वास्तविक और व्यावहारिक कारण भी हो ही सकते हैं। इन वास्तविक और व्यावहारिक कारणों को ध्यान में रखते हुए भी इतना तो साफ ही रहता है कि सभ्यता में आभासी--- पुरानी शब्दावली का इस्तेमाल करें तो माया--- तत्त्वों का आकर्षण बहुत बढ़ गया है। एक की भौतिक उपस्थिति दूसरे के माया व्यवहार के अवसर को क्षतिग्रस्त करता है। जब साथ ही नहीं रहना चाहते हैं तो दुख बँटेगा कैसे! दुख बँटेगा नहीं तो कटेगा कैसे! घर बसाने की ईहा कम हुई है। तलाक की घटना की संख्या में चिंतनीय वृद्धि हुई है। इन्हें जीवन-यापन में स्थायित्व के अवसरों की कमी से भी जोड़कर देखा जा सकता है।

संबंधों में पारस्परिक समझ, सामंजस्य एवं प्रतिपूरकता के भाव में छीजन आई है और कठ-अहं, असमंजस एवं क्रूरता में वृद्धि हो रही है। परिवार खतरे में है; विवाह संस्था खतरे में है। यह ठीक है कि विवाह यौन-संबंधों का सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और वैधानिक अघिकार प्रदान करता है, लेकिन विवाह को मात्र यौन-संबंधों से सीमित करके देखना ठीक नहीं है। विवाह को यौन-संबंध बनाने के अवसरों से सीमित करना मनुष्य के यौनाचरण को उसकी जैविक जरूरत में लघुमित कर देना है। विवाह से संपत्ति, उत्तरदायित्व, उत्तराधिकार, परंपरा, संस्कृति का भी गहरा संबंध है। किसी भी सामाजिक संबंध के मूल में किसी-न-किसी सीमा तक व्यक्तित्व समर्पण की भी जरूरत होती है। व्यक्तित्व समर्पण ही प्रेम-भाव का आधार रचता है। सामाजिक संबंध के रूप में विवाह के मूल में एक-अपर के प्रति सिर्फ दैहिक समर्पण ही नहीं व्यक्तित्व समर्पण होता है। आत्म-केंद्रिकता के बढ़ते हुए दबाव के कारण एक ओर व्यक्तित्व समर्पण की गुंजाइश खत्म हो जाती है तो दूसरी ओर व्यक्तित्व हरण की आशंकाएँ बढ़ जाती है। कहना न होगा कि हरण किसी भी हाल में समर्पण नहीं हो सकता है। व्यक्तित्व समर्पण का मूल उत्पाद प्रेम होता है और व्यित्कत्व हरण का मूल उत्पाद हिंसा होती है। हम जानते हैं कि प्रेम के भी नाना रूप हैं तो हिंसा के भी नाना रूप हैं। प्रेम के 'ना' में 'हाँ' भी छुपा होता है जबकि हिंसा के 'हाँ' में 'ना' का ही सदावास होता है।

जहाँ परिवार पर छाये संकट का असर गहरा रहा है वहाँ परिवार बचाने के लिए किया जानेवाला

सामाजिक आंदोलन भी धीरे-धीरे जोर पकड़ रहा है। विवाह संस्था की सार्थकताओं को बचाने के लिए उसमें यौन संबंधों की अंतर्वस्तु की तुलना में संपत्ति, उत्तरदायित्व, उत्तराधिकार, परंपरा, संस्कृति से संबंधित अंतर्वस्तुओं के सन्निवेश की संभावनाओं को टटोलना अधिक जरूरी है। जाहिर है कि पुरुष-वर्चस्व की अधीनता में विकसित सामजिक परंपरा की नैतिक सरणियों के अनुसार यौन-शुचिता का सारा सामाजिक दाय स्त्रियों का ही माना जाता है। नैतिक रूप से यौन-शुचिता का भाव कोई बहुत अर्थवान कभी नहीं रहा है, आज भी नहीं है। सभ्यता को इस समय यौन-मुक्त नई-नैतिकता की जरूरत है।

यह सच है कि स्त्रियों की सामाजिक दुर्दशा देह पर अत्याचार से जुड़ी हैं। लेकिन, स्त्री के अस्तित्व को शयनकक्ष की जरूरतों से सीमित नहीं किया जा सकता है। पुरुषों की ही तरह स्त्री को भी वे सारे काम करने पड़ते हैं जिन्हें अर्थशास्त्र और अर्थव्यवस्था रोजगारमूलक मानती है। इसलिए 'किसी की पत्नी' के रूप में ही स्त्री की पहचान एक त्रासद स्थिति है। स्त्री सिर्फ सहवास-संगी नहीं होती है, बल्कि समग्र सामाजिक प्रक्रिया में विकास-संगी. भी होती है। शिक्षा और उत्पादकता से प्रभावी ढंग से जुड़े होने के बाद भी उनके शोषण की महागाथा का कोई अंत नहीं है। समाज में उनकी हैसियत दोयम दर्जे पर है। अधिकतर मामलों में पुरुष की ही चलती है। स्त्रियों को तो बस मान ही जाना पड़ता है! 'स्त्री' इस सभ्यता का प्रथम उपनिवेश है, शायद अंतिम भी। स्त्री के अन-उपनिवेशन के संघर्ष को अन-उपनिवेशन की समग्र संघर्ष प्रक्रिया के साथ ही समझा सकता है।

किसी एक मामले में स्थिति भिन्न हो सकती है। उस पर फैसला भी भिन्न हो सकता है। फैसला का होना और न्याय का होना और बात है। कानून सामान्य होता है और उस कानून के अंतर्गत सुनवाई विशिष्ट का होता है। सभ्यता में विशेष के सामान्यीकरण और सामान्य के विशेषीकरण की प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है। भारत में अदालतों के फैसलों का नागरिक आदर बचा हुआ है। लंबित, विलंबित, उबाऊ, व्यय-साध्य और कई बार निरर्थक प्रतीत होनेवाली न्याय-प्रक्रिया की कतिपय अप्रिय स्थितियों के बावजूद न्यायालय के प्रति सर्वोच्च आशा और सम्मान बचा हुआ है। कहना न होगा कि सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों का नागरिक मन पर दीर्घस्थाई असर होता है। इधर कई मामलों में कुछ ऐसे फैसले आये हैं जिन से नागरिक चिंता बढ़ी है। चाहे कम उम्र में विवाह को न्यायिक स्वीकृति का मामला हो या पत्नी का संभोग से इनकार को मानसिक क्रूरता के खाता में डालने का मामला हो---

सर्वोच्च न्यायालय का फैसला चिंता बढ़ानेवाला है। यह फैसला स्वाभाविक रूप से स्वीकार्य इनकार का हक देने से इनकार करता है। यह फैसला यह सोचने का भी अवकाश बहुत कम कर देता है कि किस प्रकार की और किस मात्रा में शारीरिक-मानसिक क्रूरता के दौर से गुजरने के बाद कोई स्त्री इनकार के हक का इस्तेमाल करती है; ध्यान में होना ही चाहिए कि ऐसे मामले में इनकार असल में आत्म-निषेध का ही एक प्रकार होता है। इतिहास साक्षी है कि महान व्यक्तित्वों ने स्थाई तौर पर अपने इनकार के हक का इस्तेमाल किया है। पत्नी का इनकार पति के प्रति किये जानेवाला मानसिक क्रूरता है तो, यह भी अवश्य ही विचारणीय होना चाहिए कि किस प्रकार की मानसिक यातना से गुजरने के बाद कोई पत्नी हक के इनकार के लिए इनकार के हक का इस्तेमाल करने के लिए बाध्य होती है। विचार या कम-से-कम अनुमान तो यह भी किया ही जाना चाहिए कि व्यावहारिक रूप से कितने मामलों में पत्नी का इनकार, वास्तव में इनकार रह पाता है। विडंबना यह कि पुरुष के 'ना' को हाँ में बदलना स्त्री के लिए न तो शारीरिक स्तर पर संभव होता है और न सामाजिक स्तर पर जबकि स्त्री के 'ना' को हाँ में बदल देना पुरुष के लिए शारीरिक और सामाजिक दोनों ही स्तर पर संभव होता है। अब तो माननीय न्यायालय की मंशा के अनुसार इन संभावनाओं को वैधानिक भित्ति भी मिल गई प्रतीत होती है; जबकि होना तो उलटा ही चाहिए था। विशुद्ध वैयक्तिक और भावावेग से संबंधित निर्णय के मामलों में कानून का इस तरह के दखल की जरूरत क्या सभ्यता के लिए शुभ संकेत है? कानून की भाषा में इसका चाहे जो भी जबाव हो सामाजिकता और नैतिकता की भाषा में इस तरह के सवालों का जवाब सभ्यता को बार-बार हासिल करना होगा: हक के इनकार और इनकार के हक में संतुलन सभ्यता में संतुलन की अनिवार्य शर्त्त है।